सामाजिक संबद्धता एवं मूल्य व्यवस्था

डॉ. कृष्णपाल सिंह [1] , डॉ.श्वेता त्यागी [2]

[1]शोधार्थी, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
[2]सहायक प्रोफेसर, इंस्टिट्यूट ऑफ प्रोफेशनल एक्सीलेंस एंड मैनेजमेंट गाजियाबाद

Received: 12/09/2022, Review-1: 18/10/2022, Review-2: 24/11/2022, Accepted: 16/12/2022

सारांश

संपूर्ण सृष्टि अनेक विविधताओं के साथ ही सृजनशीलता का एक अनुपम स्थल है। इस संपूर्ण सृष्टि में पाए जाने वाले कारक संश्लेषित दृष्टिकोण से चेतन, अचेतन प्रकृति के दो प्रमुख रूपों में प्राप्त होते हैं। जहाँ अचेतन कारकों में सूक्ष्म कणों से लेकर ब्रह्मांडके बृहद पिंडों यथा मृदा, वायु, जल–थल, पृथ्वी–आकाश, सूर्य चंद्रमा, ग्रह, उपग्रह इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है, वहीं चेतन घटकों में निरीह प्राणियों से लेकर जीव–जन्तुओं, पशु–पक्षियों सहित विशिष्ट रूप से मनुष्य को शामिल किया जाता है। सृष्टि की संरचना में मौजूद यह सभी घटक अपनी मौलिकता के अनुरूप कार्य करते हुए परस्पर सम्बद्ध रहकर एक–दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। उत्तरोत्तर विकास क्रम में पूर्णता प्राप्त करने की यह प्रक्रिया सभी घटकों के लिए सदैव गतिशील रहती है। प्रकृति में सतत गतिशीलता सभी चेतन, अचेतन घटकों के लिए अनिवार्य मौलिक नियम है। सृष्टि में इस गतिशीलता, कर्म एवं उन्नयन को लोकहित में बरकरार रखने का प्रबल दायित्व विवेकशील मनुष्य पर सर्वाधिक रहता है क्योंकि प्राकृतिक एवं प्राणि जगत में प्रभावी हस्तक्षेप बनाने की प्रबल शक्ति मानव में प्रज्ञारूप में अंतर्निहित है। परंतु बढ़ती आधुनिकता और अर्थ(धन) की नितांत अनिवार्यता ने अधिकांश मानवों को स्वार्थपरक एवं एकाकी जीवन शैली की ओर ढ़केल दिया है। मनुष्य का यही एकांतिक और स्वार्थ केंद्रित दृष्टिकोण सामाजिक समरसता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। जिसके लिए मनुष्य को अपनी शारीरिक संरचना और प्राकृतिक कारकों की संरचना के आधारभूत तत्वों की प्रकृति और उनकी कार्यशैली को जानना आवश्यक है। मनुष्य का आधिभौतिक तंत्र जिस प्रकार कई पृथकताओं के उपरान्त भी संगठित व समन्वित होकर लघु सावयवी तंत्र के रूप में कार्य करता है उसी प्रकार इस सृष्टि का प्रत्येक घटक परस्पर सम्बद्ध होकर एक बृहद सावयवी तंत्र के रूप में क्रियाशील है। इस प्रकार सृष्टि की प्रक्रिया में सभी चेतन–अचेतन घटक एक नियोजित व्यवस्था के अनुरूप समस्त जीव–जगत के लिए परस्पर सम्बद्ध होकर वांछित आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले आश्रय स्थल का निर्माण करते हैं। जिसके संरक्षण, संवर्धन और उत्थान के लिए मनुष्य के जीवन की कुशलता सिर्फ भौतिक संसाधनों व यांत्रिकी पर ही निर्भर नहीं होती बल्कि यह मानवीय संबंधों की उत्कृष्टता पर भी निर्भर करती है। भारतीय वैदिक संदर्भ में सदैव मानव को मूल्यों से परिपूर्ण बनाने का संदेश दिया जाता रहा है। जिसका अनुपालन कर प्रत्येक मानव न सिर्फ मानवीय समाज के लिए बल्कि संपूर्ण प्राणी–जगत और पदार्थ–जगत के लिए एक योजक और समन्वयात्मक कड़ी के रूप में स्वयं को स्थापित कर संसार को एक सुकृत संगठित व कल्याणकारी स्थल के रूप में परिमार्जित कर सके। विश्व समाज में मनुष्य को परस्पर संबद्ध करने वाली प्रक्रिया सृष्टि संरचना की सर्वोत्तम कृति मानव के विवेकसम्मत, सर्वहितकारी और निस्वार्थ निर्णयों पर निर्भर करती है। अतः व्यक्ति को जीवन के गुणात्मक प्रसार के लिए प्रकृति व अन्य जीवधारियों के हित को ध्यान में रखकर जीवन पथ पर अग्रगामी होने का संकल्प लेना चाहिए।

प्रस्तावना :–

मनुष्य के सामने विस्तारित यह असीम संसार विविधताओं का एक अनुपम संग्रह–स्थल है। संसार की इन विविधताओं का गहनता से आत्म–साक्षात्कार करने पर यहां प्रमुख रूप से चेतन व अचेतन स्वरूप के दो प्रमुख घटक प्रतिबिंबित होते हैं। जहां एक ओर अचेतन घटकों में सूर्य, चंद्रमा, नदियाँ, पहाड़, पेड़–पौधे तथा अनेकों ग्रह–उपग्रह इत्यादि उपस्थित हैं, वहीं दूसरी ओर चेतन घटकों में अनेकों जीव–जंतु, पशु–पक्षी तथा मनुष्य इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। सृष्टि के क्रमिक विकास में सूक्ष्म जीवों से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर क्रम में विकास के सर्वोच्च पायदान पर मानव अवतरित हुआ है। सृष्टि के इस विकास क्रम में सूक्ष्म जीवों की जैविकीय संरचनाओं में मानव के विकसित होने तक अनेकों सूक्ष्म व जटिल परिवर्तन हुए हैं। विकासक्रम की इस वृहत्तम श्रंखला में विकसित मानव का सबसे प्रमुख गुण उसकी बौद्धिक शक्ति है। मनुष्य की यही बौद्धिक पराकाष्ठा उसे संसार के समस्त प्राणियों में सर्वोच्च पायदान पर स्थापित करती है। प्रज्ञारूपी मनुष्य का यह सर्वोत्कृष्ट भूषण संसार के समस्त चेतन–अचेतन घटकों के मध्य समन्वय, संतुलन और विकास के नवीन आयामों को सृजित करने का आधार बल है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक मनुष्य ने अपनी बौद्धिक योग्यताओं का प्रयोग करते हुए मानवीय आवश्यकताओं से संबद्ध, सुसंस्कृत सामाजिक संरचना, विकसित जीवन प्रणाली तथा विभिन्न संसाधनों का अभूतपूर्व सृजन किया है। विकसित होते मनुष्य के द्वारा निर्मित प्रत्येक वस्तु, संसाधन, यंत्र–तन्त्र, अस्त्र–शस्त्र तथा समस्त भौतिक उपकरणों को देखने पर एक विशेष अनुभूति होती है। इस अनुभूति का सबसे गूढ़तम तथा केंद्रीय तत्व यह है कि मानव निर्मित समस्त भौतिक संसाधनों में प्रयुक्त होने वाले बुनियादी तत्व यथा तांबा, लोहा, अभ्रक, जस्ता, सोना, चांदी, मृदा, वायु इत्यादि अनेकों मनुष्य द्वारा व्युत्पन्न न होकर मूलतः प्रकृति प्रदत्त हैं, जिनके उपयोगी परिमार्जन और रूपांतरण के

लिए मनुष्य सदैव से प्रकृति पर निर्भर व संबद्ध रहा है और आगे भी रहेगा। अतः चाहे मनुष्य द्वारा रचित समाज, सभ्यता व संस्कृति हो या ईश्वर प्रदत प्रकृति (सृष्टि) दोनों पर गहनता से विचार करने के उपरांत संबद्धता का गुण एक अनिवार्य कारक के रूप में प्राप्त होता है।

मुख्य बिंदु :— समाज, संबद्धता, मूल्य, सृष्टि, व्यष्टि।वर्तमान समय तक विकसित मानव द्वारा निर्माणिक प्रक्रमों में समाज का संगठन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। मनुष्य द्वारा निर्मित सामाजिक संगठन का यह ताना—बाना विशुद्ध रूप से पर—निर्भरता, सहयोग तथा संबद्धता जैसी मूलभूत प्रक्रियाओं पर ही अवलंबित होता है, परंतु इन प्रक्रियाओं की आवश्यकता और अस्तित्व पर विमर्श करने से पूर्व संबद्धता जैसी प्राथमिक प्रक्रियाओं के उद्गम स्रोत व उसकी प्रकृति को समझना अत्यंत आवश्यक है।

संबद्धता प्रत्यय का मूल स्रोत एवं प्रकृति :— साधारण अर्थ में संबद्धता का पर्याय जुड़ना, करीब आना, मिलना इत्यादि शब्दों के रूप में किया जाता है। परंतु गहरे अर्थ में संबद्धता से पर्याय उस प्रक्रिया से है जहां दो या दो से अधिक पृथक या एकरूप कारक मिलकर परस्पर एक दूसरे की पूर्णता, विकास एवं शक्ति विस्तारण के लिए किसी विशिष्ट शैली को नैसर्गिक व सहज रूप से अपनाते हैं। संबद्धता की इस प्रक्रिया को मानव से पृथक समस्त अचेतन घटकों में सामान्य रूप से अवलोकित किया जा सकता है। धरती—आकाश, ग्रह—उपग्रह, नदियां, पहाड़, पेड़—पौधे, जल—वायु इत्यादि अनेक अचेतन कारकों की वृहत्तम श्रंखला को सहज भाव से देखने पर उनके मध्य मौजूद सुनियोजित, क्रमबद्ध व व्यवस्थित प्रक्रम, संबद्धता के गुण को उजागर करता है। मनुष्य को निष्काम कर्म भावना का महान संदेश देते हुए भगवान श्री कृष्ण ने गीता दर्शन के एक श्लोक में प्रकृति के चेतन—अचेतन तत्वों की संबद्धता, कर्मशीलता तथा प्रयोजनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है,

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्कर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।1

वास्तव में कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। संसार का कोई भी मनुष्य क्षण मात्र के लिए भी अपने कर्मों का परित्याग नहीं कर सकता क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा विवश होकर सभी कर्म करते हैं। अतः कहा जा सकता है इस सृष्टि की संरचना प्रयोजनशीलता और कार्यशीलता के ऐसे नियमों का अनुसरण करती है जहां सृष्टि का चेतन—अचेतन कोई भी घटक एक क्षण भी कर्म से विमुख नहीं रह सकता। अचेतन वस्तु भी अपने कार्यों का संपादन सतत रूप से करती है । अतः कर्म से विमुख होना महान मूर्खता है।2 कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में जड़ पदार्थ हों या चेतन सभी निरंतर सम्बद्ध और कार्यरत हैं। आइंस्टीन ने अपने आविष्कार में यह प्रमाणित किया कि प्राकृतिक घटकों के प्रत्येक परमाणु में विद्यमान सूक्ष्म कण इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन निरंतर क्रियाशील रहकर संघर्ष करते हैं अर्थात यह संपूर्ण जगत ही निरंतर संघर्षमय, सम्बद्ध और कार्यशील है तो इस संबद्धता व कार्यशीलता के सार्वभौमिक नियम का अनुपालन मानव जीवन में विशिष्ट महत्व रखता है।3 संबद्धता की इस प्रक्रिया के दार्शनिक व प्राकृतिक संदर्भ को पहचान कर हम समस्त मानवों को अपने मस्तिष्क पटल पर यह तथ्य अवश्य ही स्थापित करना चाहिए, कि पारस्परिकता, सहयोग, समन्वय व संबद्धता मनुष्य के जीवन उद्गार का आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य व मौलिक प्रक्रम है।

व्यष्टि;प्दकपअपकनंसद्ध और सृष्टि;न्दपअमतेमद्ध के संरचनात्मक कारकों के संदर्भ में संबद्धता :— मनुष्य के भौतिक शरीर के संरचनात्मक संगठन और क्रिया प्रणाली को सूक्ष्मता से देखने पर यह एक सावयवी तंत्र के रूप में प्रतीत होता है। मनुष्य की शारीरिक क्रिया प्रणाली में विभिन्न प्रकार के संस्थान कार्य करते हैं। आवश्यक वायु को ग्रहण करने तथा अनावश्यक वायु का निष्कासन करने का कार्य श्वसन संस्थान द्वारा संपादित होता है। मनुष्य में स्वयं के सादृश्य नवीन संतति को ऊपजने का कार्य प्रजनन संस्थान द्वारा पूर्ण होता है। शरीर को क्रियान्वित बनाए रखने के लिए वांछित ऊर्जा की सम्पूर्ति में आहार इत्यादि को ग्रहण करने तथा उसे निश्चित अवयवों में विखंडित कर उर्जा रूप में परिणत करने का कार्य पाचन संस्थान द्वारा संपादित होता है। शरीर तथा जीवन के लिए अनिवार्य प्राणवायु को अंग—प्रत्यंगों तक सतत प्रवाहित करने का कार्य रुधिर परिसंचरण संस्थान द्वारा क्रियान्वित होता है। इसी क्रम में मनुष्य के बाह्य वातावरण तथा आंतरिक वातावरण से संबंधित विषय, वस्तुओं व आवश्यकताओं संबंधी सूचनाओं को सार्थक स्वरूप में मस्तिष्क तक पहुंचाने का कार्य केंद्रीय तंत्रिका संस्थान;ब्छै..द्ध द्वारा संपादित होता है। मनुष्य की शारीरिक संरचना में इन पृथक—पृथक संस्थानों का सावयवी ढंग से कार्य करना मनुष्य को एक वृहत सावयवी तंत्र के रूप में स्थापित करता है। यहां सावयवी ढंग से पर्याय विभिन्न संस्थानों द्वारा अपने कार्य को सफलतापूर्वक संपादित करने की स्थिति में तंत्रों की परस्पर संबद्धता को बनाए रखने से है। अतः मानव शरीर के विभिन्न अंग—प्रत्यंग स्वतंत्र रूप से अपने विशिष्ट कार्यों का संपादन करने के साथ परस्पर सम्बद्ध होकर शारीरिक तंत्र को जीवंत बनाए रखने के विशिष्ट उद्देश्य को पूर्ण करने में योगदान देते हैं। मनुष्य की शारीरिक संरचना को चाहे वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए या आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूत किया जाए, दोनों में प्रथम दृष्टया स्वीकारा जाता है कि मनुष्य का स्थूल शरीर पंचमहाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से मिलकर बना है। ज्ञातव्य है कि मानव शरीर जिन पंचमहाभूतों का संघात है उन्हीं पंचमहाभूतों द्वारा संसार के समस्त चेतन—अचेतन घटकों का सृजन हुआ है। अतः सृष्टि के विभिन्न अवयवों में पायी जाने वाली वैविध्यता सृष्टि के समस्त कारकों की आंतरिक संगतता;प्दजमतदंस ब्वदेमेजमदबलद्ध के गुण को उजागर करती है। अतः गुणात्मक रूप से कार्य और व्यवहार की जो संभाव्यता;च्वजमदजपंसपजलद्ध सृष्टि के अन्य घटकों में विद्यमान है वही संपूर्ण सामर्थ्य मानवीय संरचनात्मक तंत्र में अंतर्निहित है। अतः जो आधारभूत तत्व सृष्टि के अन्य घटकों में संरचनात्मक दृष्टिकोण से विद्यमान हैं वह सभी तत्व मानव की शारीरिक संरचना में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार पिंड के रूप में जो मानव का स्वरूप है वही स्वरूप संसार की अनेकानेक वस्तुओं, विषयों एवं पदार्थों में अन्तर्भूत होता है। चेतन—अचेतन घटकों के मध्य इस तात्विक सादृश्यता को आयुर्वेद के प्रमाणिक ग्रंथ चरक—संहिता में निम्न प्रकार उल्लेखित किया गया है

''ऐवमयं लोकसमितः पुरुषः । यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति य बुधास्त्वेवं दृष्टुमिच्छन्ति।''[4]

पर्याय यह है कि पुरुष लोक–समित अर्थात जगत के तुल्य है, जितने ही लोक में मूर्तिमान स्वरूप वाले भाव(कार्य) विशेष हैं उतने ही भाव(कार्य) विशेष पुरुष में भी हैं और जितने भाव–विशेष पुरुष में हैं उतने ही लोक में हैं। विद्वान पुरुष ऐसा ही देखना चाहते हैं अर्थात लोक और पुरुष में सामान्य समझते हैं। इसी स्थिति को भारतीय दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक कथन के रूप में पिंड–ब्रह्मांड न्याय कहा जाता है, अर्थात यत्पिण्डे(मनुष्य शरीरे) तदब्रह्माण्डे, यद्ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे अर्थात जो सब मनुष्य शरीर में पिण्ड के रूप में स्थित है वही सब कुछ ब्रह्मांड में विद्यमान है और जो ब्रह्मांड में विद्यमान है वह सर्वस्व पिण्ड के रूप में मनुष्य शरीर में उपस्थित है। मानवीय शरीर और सामाजिक संरचना की सादृश्यता को इसी संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध जीव विज्ञानी एवं समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेंसर ने प्राक्कल्पना प्रस्तुत की थी जिसमें उन्होंने कहा था कि समाज जैविकीय संरचना के समान है अर्थात समाज सावयवी है।5 उपरोक्त विवेचन से स्पष्तः यह बोध होता है कि ब्रह्मांड की संरचना में मौजूद चेतन–अचेतन घटकों की बाहरी संरचना अवश्य पृथक–पृथक है परंतु उनके सृजन में प्रयुक्त होने वाले मूलभूत कारक अर्थात पंचमहाभूत एक रूप में विद्यमान हैं। जिसके आधार पर यह सृष्टि अनेक विविधताओं के उपरांत भी मौलिक एकरूपता एवं संबद्धता के गुण को उजागर करती है। मौलिक एकरूपता एवं संबद्धता के इस गुण को आत्मसात करते हुए मनुष्य को जीव–जगत के समस्त घटकों को आत्मस्वरूप के रूप में स्वीकार करना चाहिए।?

संबद्धता का सामाजिक संदर्भ एवं महत्व :– मानव जीवन उन समस्त क्रियाओं, परिस्थितियों, घटनाओं, और पर्यावरणीय कारकों का समग्र है, जिन से वह जन्म से लेकर मृत्यु–काल तक निरंतर प्रभावित होता है और जिनमें प्रभावी हस्तक्षेप भी बनाता है। जीवनकाल के विकास क्रम में विविध कारकों यथा पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक इत्यादि का व्यापक प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। जिनसे क्रिया–प्रतिक्रिया के दौरान मनुष्य शनैः शनैः परिपक्वता को प्राप्त करता है। जीवन के प्रारंभिक दौर में इस परिपक्वता का प्रभाव मानव के शारीरिक पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है, जिसके परिणामस्वरूप वह शारीरिक आवश्यकताओं के केंद्रीय तत्वों यथा भूख, प्यास, निद्रा इत्यादि की पूर्ति के लिए अधिक क्रियाशील होता है। समय के पदार्पण में वह जैसे–जैसे आगे बढ़ता जाता है, मानवीय परिपक्वता के यह दायरे बौद्धिक निपुणता की ओर विस्तारित होने लगते हैं। इसी बौद्धिक निपुणता और शारीरिक दक्षता के आधार पर मानव सामाजिक क्रियाओं में सक्रिय होकर अपनी विशिष्ट भूमिका स्थापित करता है। समाज में मानव की शारीरिक और बौद्धिक निपुणताओं पर आधारित यही सक्रियता जीवन की अविरल धारा का केंद्रीय तत्व है। परंतु मनुष्य के संदर्भ में जीवन की सक्रियता का प्रत्यय अत्यंत व्यापक है जिसे सामाजिक संदर्भों में कर्म की संज्ञा दी जाती है। सृष्टि में विद्यमान अनेक जीवधारियों में मनुष्य अपनी बौद्धिक पराकाष्ठा के कारण सर्वोच्च पायदान पर स्थित है, और इसी प्रकृति प्रदत्त बौद्धिक विलक्षणता के कारण मानव के कार्य और उत्तरदायित्व के दायरे सिर्फ व्यक्ति तक ही सीमित नहीं होते बल्कि यह समस्त मानव जाति, जीव–जगत और संपूर्ण सृष्टि के कल्याण और संबद्धता तक विस्तारित हो जाते हैं, अर्थात मानव जीवन की उत्कृष्टता न सिर्फ इस तथ्य में निहित है कि मानव किस प्रकार पर्यावरणीय घटकों के साथ समायोजन स्थापित कर स्वयं का अस्तित्व बनाए रखे बल्कि जीवन की महत्ता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने कर्मों में त्याग, प्रेम, उदारता और परार्थ जैसे गुणों को इस हद तक समाविष्ट करे कि सृष्टि में विद्यमान अन्य मनुष्यों, प्राणियों, जीव–जंतु, वनस्पतियों इत्यादि सभी के लिए पर्यावरणीय समायोजन सरल, सुगम और प्रभावी बन सके। इसी तथ्यगत विचारधारा को महोपनिषद् के एक श्लोक में सारगर्भित व उत्कृष्टतम रूप में निम्नवत प्रस्तुत किया गया है ।

''अयं बन्धुरयं नेति कल्पना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।''[6]

अर्थात श्रेष्ठ आचरण वाला उदार विषयों में अनासक्त और सर्वश्रेष्ठ आचरण का अनुगामी होकर अंतःकरण में वैराग्य धारण कर बाहर से श्रेष्ठ व्यवहार करना चाहिए। 'यह मेरा बंधु नहीं है और यह है', ऐसा विचार अल्प बुद्धि वाले करते हैं जो लोग उदार मन वाले होते हैं, उनके लिए तो संपूर्ण संसार ही कुटुंब अर्थात परिवार है।

संपूर्ण सृष्टि अनेक विविधताओं का ऐसा अद्भुत और अनुपम संग्रह है जिसके प्रत्येक तत्व में सहयोग, समन्वय, संबद्धता के आधार पर प्रयोजनशीलता, उत्पादकता और पर–कल्याण की क्षमता पूर्व से ही अंतर्निहित है। एक साधारण सा बीज जब मिट्टी में दबाया जाता है तो वह विकसित होने की दिशा में बाहर आने के लिए संघर्ष करता है और धीरे–धीरे वृक्ष का रूप लेकर अपनी प्रकृति के अनुरूप फल, फूल, अनाज, लकड़ी इत्यादि का सृजन करता है। पृथ्वी सभी को भोजन, खाद्यान्न आदि प्रदान करती है। इसी प्रकार सूर्य, चंद्रमा, तारे, नदियां, वृक्ष, वनस्पति, धरती, आकाश, अनेकों ऐसे घटक पृथ्वी पर विद्यमान हैं, जिनकी सतत् और नियमित कार्यशीलता के आलोक में न सिर्फ मनुष्य आश्रय लेता है बल्कि इनके सहारे संरक्षित, पोषित और पल्लवित होकर जीवन का विकास करता है। जैसा कि डॉ0 सुद्युम्न आचार्य ने अपनी पुस्तक 'दर्शनशास्त्र की परंपरा में भौतिक विज्ञान' के अंतर्गत मनुष्य और प्रकृति के संबंध का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'क्या यह मानव के अहंकार को ध्वंस करने के लिए काफी नहीं, कि सूर्य की कृपा के बिना तथा वनस्पति की क्रिया के बिना स्वयं घास का एक तिनका भी नहीं बना सकता' ।7 कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में जड़ पदार्थ हों या चेतन सभी निरंतर पर–कल्याण के लिए कार्यरत हैं। परंतु मानव में वैचारिक कोटि की संकीर्णता से व्युत्पन्न स्वार्थ केंद्रित प्रवृत्ति कर्म, उत्तरदायित्व व संबद्धता के दायरों को सीमित बना देती है। जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि की प्रयोजनशीलता बाधित होती है और जिसका प्रभाव न सिर्फ व्यक्ति विशेष के जीवन पर पड़ता है बल्कि व्यक्ति से संबद्ध समस्त जनमानस और अन्य जैविक, अजैविक घटकों पर भी पड़ता है, क्योंकि संबद्धता, सहयोग और समन्वय के आधार पर ही मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। मनुष्य जीवन का सबसे विचारणीय और ग्रहणीय तथ्य यह है कि उसके जीवन के समस्त क्रियाकलापों का आधार सिर्फ व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत और सार्वभौमिक होता है जिस की कामना वेदो में भी निम्न प्रकार की गई है–

समानी व आकूतिः सामना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[8]

हे! मनुष्यों तुम्हारे संकल्प समान हों तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हों, तुम्हारे मन समान हों, जिससे तुम लोग परस्पर मिलकर एक होकर रहो ।

जीवन और जगत के प्रति यह संबद्धता मानव की निजता और स्वतंत्रता का निषेध नहीं करती बल्कि मानवीय स्वच्छंदता को नियंत्रित कर मनुष्य को वैयक्तिक हित में लाकर उसके नैतिक और सामाजिक जीवन का उन्नयन करती है। मानवीय क्रियाओं के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाला स्वतंत्रता शब्द भी जीवन व समाजोपयोगी सुनिश्चित दायरों का बोध कराता है। इन सुनिश्चित दायरों से परेय स्वतंत्रता भी मानव जीवन के लिए घातक सिद्ध होती है। स्वतंत्रता के प्रत्यय को संबद्धता के साथ समन्वित करते हुए प्रसिद्ध सामाजिक मनोवैज्ञानिक इरिक फ्रोम्म9 ने अपनी पुस्तक 'स्केप फ्रॉम फ्रीडम' में मनुष्य को एक सामाजिक पशु की संज्ञा देते हुए बताया कि जैसे जैसे व्यक्ति अपनी अनुभूतियों के आधार पर स्वयं को विकसित करता है उसमें स्वतंत्रता की भावना प्रबल होती जाती है, आधुनिक युग में प्राचीन युग की अपेक्षा मनुष्यों में स्वतंत्रता की भावना अधिक प्रबल हुयी है। उनका मानना था कि जैसे जैसे लोगों में स्वतंत्रता की भावना मजबूत हुई है उनमें अकेलापन, असार्थकता (Insignificance) तथा दूसरों से असंबद्ध या विमुख होने की प्रवृत्ति प्रबल होती गई है। वहीं दूसरी ओर जब व्यक्तियों में अपेक्षाकृत कम स्वतंत्रता होती है तो उनमें सुरक्षा तथा संबद्धता (Belongingess) की भावना भी तीव्र होती है। इस प्रकार असीमित स्वतंत्रता की भावना सुरक्षा एवं संबद्धता की भावना के विपरीत प्रभाव डालती है। एक ओर व्यक्ति जब स्वयं को स्वतंत्र करना चाहता है तथा वातावरण की वस्तुओं एवं घटनाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करता है, तो वहीं दूसरी ओर इस तरह की स्वतंत्रता के प्रयास में उसे अकेलापन, असार्थकता तथा विमुखता (Alienation) जैसी कटु भावनाओं का सामना भी करना पड़ता है। प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु नागार्जुन ने संबद्धता और स्वतंत्रता प्रत्ययों को निम्न संदर्भ में व्यक्त किया है **'वस्तुएं अपना अस्तित्व एवं स्वभाव पारस्परिक निर्भरता द्वारा ही ग्रहण करती हैं स्वतंत्र रूप से अपने स्वयं में उनका कोई अस्तित्व नहीं है।'**[10]

इस प्रकार सामाजिक जीवन के लिए प्रयुक्त होने वाला संबद्धता प्रक्रम न सिर्फ वर्तमान विस्तृत व जटिल मानवीय समाज के कुशल संगठन, नियोजन व उन्नयन तक ही सीमित है बल्कि यह संबद्धता पूर्ण रूप से मानवीय संबद्धता का स्वरूप तब धारण करेगी जब संबद्धता की इस प्रक्रिया को मानवीय विचार व व्यवहार में इस प्रकार स्थापित किया जाए कि यह समस्त जीव–जगत के संरक्षण, उत्थान और कल्याण तक विस्तारित हो सके।

नैसर्गिक मूल्य के रूप में संबद्धता :– मानव के वैयक्तिक व सामाजिक जीवन में मूल्यों से पर्याय नैतिक व आध्यात्मिक रूप से स्वीकृत उन आधारभूत गुणों से है, जिनका आत्मसात कर मनुष्य पशुवत प्रवृत्तियों का शोधन कर मानवीय संज्ञा से विभूषित होता है। अतः एक जैविकीय प्राणी के रूप में जन्म लेने के उपरांत मनुष्य जिन मूलभूत गुणों यथा प्रेम, त्याग, करुणा, दया, परोपकार, ईमानदारी, न्याय, सत्य, अहिंसा इत्यादि को धारण कर मनुष्यत्व को प्राप्त करता है, उन सभी सकारात्मक आदर्श व जीवनोपयोगी क्रियाओं को मानवीय समाज में मूल्यों की संज्ञा दी जाती है। इन विविध मूल्यों की विस्तृत श्रंखला एवं वर्गीकरण यथा मानवीय मूल्य, सामाजिक मूल्य, राष्ट्रीय मूल्य, नैतिक मूल्य इत्यादि को यदि समग्र दृष्टिकोण से देखा जाए तो संपूर्ण संसार में मनुष्य और जीव–जगत दोनों के लिए जो प्राथमिक मूल्य प्राप्त होता है वह प्रेम है। प्राकृतिक जगत में विद्यमान सूक्ष्म कण से लेकर बृहद पिंडों तक सभी में जो सतत् क्रियाशीलता पायी जाती है वह उन सभी के मध्य पारस्परिक संबद्धता का ही परिणाम है। प्रत्येक छोटा–बड़ा पिंड जिस नियोजित व्यवस्था के साथ सतत कार्यशील रहकर अपने–अपने प्रयोजन को पूर्ण करने की दिशा में परस्पर सम्बद्ध रहता है, उन सभी के मध्य पारस्परिकता, प्रयोजनशीलता एवं संबद्धता की यह प्रक्रिया किसी विशेष आकर्षण या खिंचाव को दर्शाती है। जिसके आधार पर अचेतन जगत का प्रत्येक छोटा–बड़ा पिंड मौलिक विविधता के उपरांत भी परस्पर सम्बद्ध होकर नियमित क्रियाशील रहता है। अतः प्रकृति में संबद्धता का यह नैसर्गिक गुण मनुष्य को कर्मशीलता एवं परार्थपूर्ण जीवन शैली को अपनाने का गूढ़तम संदेश प्रदान करता है।

महर्षि कपिल द्वारा रचित सांख्य दर्शन11 सृष्टि संरचना के संदर्भ में प्रकृति और पुरुष रूपी जिन दो तत्वों की संबद्धता, सक्रियता व पारस्परिकता का परिणाम है, मनुष्य रूपी सृष्टि में यह प्रक्रिया उसके सर्वोपरि मूल्यवान गुण प्रेम को सृजित कर मानवीय संबद्धता के दायरों को विस्तारित करती है। मनुष्य जीवन में इस संबद्धता, सानिध्यता और समर्पण भाव का होना उसके नैसर्गिक गुण प्रेम को व्यक्त करता है, जो सृष्टि(Universe) और व्यष्टि (Individual) में आंतरिक तौर पर सदैव विद्यमान है। कहने का पर्याय है कि संबद्धता शब्द का प्रयोग चाहे मनुष्य समाज के लिए किया जाए या प्रकृति के लिए, दोनों ही के संरक्षण, संवर्धन एवं कल्याण के लिए संबद्धता का यह नैसर्गिक गुण विशुद्ध मूल्य के रूप में अनिवार्यतः धारण करने योग्य है।

निष्कर्ष :– उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि संपूर्ण सृष्टि और उसमें विद्यमान अनेकों चेतन–अचेतन घटक परस्पर एक दूसरे को विकसित होने तथा पूर्णता प्रदान करने के लिए परस्पर सम्बद्ध होकर सदा क्रियाशील रहते हैं। सृष्टि के इन समस्त घटकों में बौद्धिक योग्यताओं से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य को इन सभी में सर्वोपरि माना गया है। अतः सृष्टि की इस संबद्धता के सुनिश्चित प्रयोजन को समझकर, स्वीकार करते हुए मनुष्य को अपने कर्तव्यनिष्ठता के दायरों को समस्त मानव–जगत व प्राकृतिक–जगत के उत्थान व कल्याण तक विस्तारित करने की महती आवश्यकता है। सृष्टि के इस उत्थान की विशुद्ध युक्ति के रूप में हमें सामाजिक संबद्धता के लिए अनिवार्य रूप से मूल्यों का अनुकरण करना होगा।

संदर्भ सूची

(1) अपूर्वानंद, स्वामी (2013). श्रीमद्भगवद्गीता, नागपुरः रामकृष्ण मठ, पृष्ठ संख्या– 61
(2) सिन्हा, हरेंद्र प्रसाद (2012). भारतीय दर्शन की रूपरेखा, दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, पृष्ठ संख्या–71
(3) लखोटिया, मुरलीधर (2000). वास्तविक जीवन का रहस्य, मेरठः राधा पॉकेट बुक्स, पृष्ठ संख्या–43
(4) शास्त्री, काशीनाथ पांडे एवं गोरखनाथ चतुर्वेदी (2021). चरक संहिता, वाराणसीः चौखंबा भारतीय अकादमी, पृष्ठ संख्या 773 – 774
(5) दोषी, शंभूलाल एवं प्रकाश चंद्र जैन (2013). प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, जयपुरः रावत पब्लिकेशन, पृष्ठ संख्या– 95
(6) आचार्य, पंडित श्रीराम शर्मा (2003). 108 उपनिषद, साधना खण्ड, बरेलीः संस्कृति संस्थान, पृष्ठ संख्या 193
(7) आचार्य, सुद्युम्न (2015). दर्शनशास्त्र की परंपरा में भौतिक विज्ञान, सतनाः वेद वाणी वितान, प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पृष्ठ संख्या–5
(8) सरस्वती, महर्षि श्रीमदयद्दयानन्द (2018). ऋग्वेद, चतुर्थ भाग, दिल्लीः विजय कुमार गोविंदराम हसानंद, पृष्ठ संख्या–1266
(9) सिंह, अरुण कुमार एवं आशीष कुमार सिंह (2012). व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास पृष्ठ संख्या– 235 , 236
(10) काप्रा, फ्रित्जॉफ (2014). भौतिकी का सतपथ, नई दिल्लीः न्यू एज बुक्स, पृष्ठ संख्या–367
(11) पाण्डेय, संगम लाल (2002). भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, इलाहाबादः सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या–230